

शुक्रनीति में राजतंत्र की अवधारणा

अनिल कुमार उपाध्याय*

वैदिक काल से शुक्रनीति तक राजतंत्रात्मक व्यवस्था अविच्छिन्न रूप में पायी जाती है। शुक्रनीति में राजतंत्र की व्यापक व्याख्या की गयी है। कामन्दक, शुक्र ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का सामान्य विवेचन एवं समीक्षा किया है। 'अर्थशास्त्र' की तुलना में संक्षिप्त होते हुए भी शुक्रनीति का विषय-क्षेत्र विस्तृत है। इस ग्रन्थ में राजतंत्रात्मक-व्यवस्था का अध्ययन एवं अनुशीलन कुछ क्षेत्रों में लेखक की मौलिक प्रतिभा दर्शाती है। इस आशय में अर्थशास्त्रोत्तर काल में राजतंत्र की अवधारणा प्रस्तुत करने वाला यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

राज्य एवं राजा - अर्वाचीन विद्वान् राज्य के अन्यान्य तत्वों का विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं, जिनकी संख्या तीन से सात तक है। नवीन मान्यता कम से कम राज्य के चार आवश्यक तत्व अनिवार्य मानती है। राज्य के ये मूल तत्व हैं - जनसंख्या, भूभाग, प्रभुसत्ता और सरकार। आधुनिक राजनीति-शास्त्र के अनुसार की गयी राज्य की परिभाषा एवं उसके तत्वों के विपरीत प्राचीन भारत में राज्य के सात अंग, अवयव या प्रकृति माने गये हैं। ये अवयव हैं - स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, बल, कोश और मित्र।

पाश्चात्य आधुनिक राज्य की परिभाषा राष्ट्र-राज्य, केन्द्रीभूत राज्य शक्ति, सम्प्रभुता एवं साम्राज्यवाद के परिप्रेक्ष्य में करती है। आज साम्यवादी ही नहीं व्यवहारवादी राजनीति भी प्रस्तुत परिभाषा स्वीकार नहीं करती। व्यक्ति, समाज एवं राज्य के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध अभिव्यक्त करने के लिये राज्य के जनसंख्या, भू-भाग, सरकार व प्रभुसत्ता अपर्याप्त है। प्राविधिक विकास, राजनीतिक शक्ति के विस्तार एवं आर्थिक शक्तियों की प्राथमिकता में यूरोपीय राज्य सम्बन्धी परिभाषा अपर्याप्त ही नहीं बल्कि चूक भी गयी है। स्वयं सम्प्रभुता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास, बहुलवादी समाज तथा धरती की सारी मानव जाति की समान समस्याएँ आदि के कारण समाप्त हो रही है। प्रस्तुत संदर्भ में प्राचीन भारतीयों द्वारा चार के स्थान पर सात तत्वों को स्वीकार करना विशेष महत्वपूर्ण रहा है।

आचार्य शुक्र ने राज्य में सबसे महत्वपूर्ण स्थान राजा को प्रदान किया है। उसे मूर्धा या शिर कहा गया है।¹ आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही यह धारणा विकसित हो जाती है कि 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेप'।² इस समय तक राज्य की सभी प्रकृतियों का पूर्ण विकास

हो जाता है, किन्तु इसमें राजा का प्रथम स्थान है - 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने राजा की महत्ता का उल्लेख करते हुए बताया कि उसके अभाव में मात्स्य न्याय होगा।³ अतएव अब राजा समाज की अनिवार्य आवश्यकता बन गया। वैदिक काल में राजशक्ति केवल 'सामाजिक संरक्षण' तक ही सीमित थी। उसकी प्रभुसत्ता विधि सापेक्ष थी। वस्तुतः राजशक्ति पर सभा एवं समिति जैसी सार्वजनिक संस्थाओं का कठोर नियंत्रण था। लेकिन अर्थशास्त्र काल में आकर राजा को समाज की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों क्षेत्रों में रक्षा का दायित्व निभाना पड़ता था। यह अवस्था राज्यशक्ति को धीरे-धीरे केन्द्रीयकरण की ओर ले जाती है। यह अवधारणा राजशक्ति की सशक्तता को पूर्ण करती है। प्रारम्भिक काल से लेकर धर्मसूत्रों के काल तक राजा न्यायिक-प्रशासन की अपेक्षा प्रशासनिक विषयों तक अधिक समबद्ध रहा। परन्तु स्मृतियों के काल में राजा न्यायिक प्रशासन में भी महत्वपूर्ण प्रेरक भूमिका अदा करने लगा। शुक्रनीति के काल तक न्याय करना राजा का पदेन कर्तव्य बन गया।⁴ कुल, श्रेणी, गण और सभ्य सभी लोगों के ऊपर राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी भी बना। इन सब में अधिक शक्तिशाली और धर्म-अधर्म का निर्णायक स्वयं राजा बन गया।⁵ इस काल में राजाज्ञा का उल्लंघन बहुत बड़ा अपराध माना जाने लगा।⁶ शुक्रनीति में राज्य में कानूनों के स्रोत हैं - धर्मशास्त्र, जातियों, प्रदेशों तथा श्रेणियों के चलन और राजा के आदेश या आज्ञायें।⁷

शुक्र ने राजा को राज्य का मूल माना है, यद्यपि उसके वर्णन में अन्य अंगों का सापेक्षिक महत्व है। आचार्य कौटिल्य षरा राज्य की सभी प्रकृतियों को मात्र राजा में समेट लेने के उद्धरण पर चार्ल्स ड्रेकमियर महोदय ने राजा की तुलना फ्रांसीसी शासक लुई चौदहवें से करते हुए माना है कि राज्य के अंग नाममात्र के थे और वस्तुतः राजा ही राज्य था। लेकिन यह धारणा संदर्भ से कटी हुई है। राजा की स्थिति आपात्काल में भले ही महत्वपूर्ण हो, किन्तु बी.ए. सैलेटोर के मतानुसार वह निरंकुश नहीं हो सकता। उसे अन्य प्रकृतियों के सहयोग व परामर्श से कार्य करना पड़ता है। शुक्र ने यही बात इस रूप में कही है कि राजनीतिज्ञ शासक सर्वदा अपनी प्रकृतियों के परामर्शानुसार कार्य करता है। यदि वह स्वच्छन्दतापूर्वक मनमानी करने लगता है, तो सम्पूर्ण प्रकृतियों सहित सारा राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है।⁸ राजा की प्रकृतियों में परस्पर भेद होने का उत्तरदायित्व राजा पर ही रखा गया है। यदि ऐसा होता है तो वह राजा की मूर्खता का द्योतक है।⁹

अस्तु, राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में उसके विभिन्न अंगों के परस्पर सम्बन्ध, उनका स्वतंत्र अस्तित्व और उनमें राजा का एक अंग के रूप में प्रथम स्थान अभिव्यक्त होता है। इसमें व्यक्ति की सुरक्षा तथा सामाजिक विधि-विधान की स्थापना का लक्ष्य रहता है। इस उद्देश्य के अभाव में राज्य की कल्पना ही नहीं हो सकती। राज्य के सावयव सिद्धान्त में राजा राज्य का एक अंग है और उसे अन्य प्रकृतियों के साथ कार्य करना पड़ता है।¹⁰

*प्रधानाचार्य, सर्वोदय इण्टर कालेज, खुदौली, जौनपुर, (उ.प्र.) भारत

मंत्रिपरिषद् - प्रायः सभी प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राजा के लिए मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है।⁹¹ 'नीतिवाक्यामृतम्' तथा 'महाभारत' तो स्वतंत्र रूप में राजा का कोई अस्तित्व ही नहीं मानते।⁹² शुक्र ने भी राजा और मंत्रिपरिषद् में सावयव सम्बन्ध प्रस्तुत किया है। अकेले निर्णयकारी राजा का निर्णय माना ही नहीं जा सकता है। शुक्रनीति से सूचना मिलती है कि मंत्रिमण्डल के निर्णय (संकल्प) काफी सशक्त एवं महत्वपूर्ण थे। राजा उनकी आलोचना नहीं कर सकता था।⁹³ संवैधानिक दृष्टि में राजा के हस्ताक्षर तथा मुहर के बाद लेखपत्र ही राजा है न कि स्वयं राजा।⁹⁴ शुक्रनीति ही मात्र एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें इस प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है कि राजा उन्हीं निर्णयों पर हस्ताक्षर करेगा जिन पर सम्बद्ध विभाग के मंत्री के हस्ताक्षर हों। फलतः राजा अपने जिस अधिकार का प्रयोग करता है, वह सीमित है।

कोश प्रकृतियाँ - राज्यकार्य के संचालन में कोश की अनिवार्यता अपरिहार्य है। इसीलिए कोश को राज्य का एक आवश्यक अंग माना गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, कौटिल्य, भीष्म इत्यादि सभी ने कोश की महत्ता स्वीकार की है।⁹⁵ कोश के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों से राजा का आर्थिक-व्यक्तित्व सामने आजा है। राजनीतिक शक्ति का आधार है - आर्थिक शक्ति। शुक्र की धारणा है कि कोश का संग्रह मुख्यतः तीन कार्यों के लिए किया जाता है - सैन्य संचालन, प्रजा-रक्षण और यज्ञ।

स्मृतिकार मनु व आचार्य कौटिल्य ने दण्ड को सप्तांग राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। स्मृतिकार मनु ने दण्ड का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार यह जगत् दण्ड के अधीन स्थित है।⁹⁶ आचार्य कौटिल्य ने बल को शक्ति मानकर उसे मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति के अन्तर्गत परिगणित किया है।⁹⁷ उनके अनुसार तीनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ होता है।⁹⁸ दुर्ग राज्यरक्षा का प्रमुख साधन है। यह मात्र राजा नहीं प्रजा एवं कोष-संरक्षण के लिये अनिवार्य है।⁹⁹

अर्थशास्त्र में राष्ट्र को 'जनपद' कहा गया है। डी.आर. भण्डारकर के अनुसार यह विशेष प्रकार के 'जन' तथा विशेष प्रकार के 'क्षेत्रफल' का द्योतक है। संविधान या राजनीतिक व्यवस्था में पवित्र निष्ठावान व्यक्ति ही जनपद के अंग हैं। क्षेत्रफल में खनिज पदार्थ, पशु, धन, उपजाऊ भूमि आदि आते हैं।¹⁰⁰ राष्ट्र की परिभाषा करते हुए की धारणा है कि राजा के अधीन जो (भू-भाग) होता है, वह राष्ट्र कहलाता है।¹⁰¹ इसमें स्थावर और जंगम दोनों ही आते हैं।¹⁰² शुक्र ने राष्ट्र की उपमा पैर से दी है। मानव पैर के द्वारा ही कही आने-जाने की बात सोचता है। राष्ट्र भी किसी दूसरे राष्ट्र पर अपना शासन स्थापित करने की क्रिया पैरों के द्वारा ही कर सकता है।

मित्र राज्य का अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रस्तुत करता है; क्योंकि वह राज्यक्षेत्र के बाहर का भिन्न राज्य होता है। प्राचीन भारतीय राज्य की सम्प्रभुता अन्तरराष्ट्रीयता सापेक्ष है और

उसकी शक्ति अन्तरराष्ट्रीय मैत्री पर निर्भर करती है। स्पष्ट है कि जिस राजा के मित्र नहीं है, वह राजा ही नहीं है। इस सम्बन्ध में काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थवाद का आश्रय लिया गया है। मित्र दो प्रकार के होते हैं - सहज एवं कृत्रिम।¹⁰³

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शुक्र की राजनीतिक व्यवस्था में राज्य के सभी अंगों का पारम्परिक सापेक्षित महत्व है। यद्यपि राजा का स्थान शीर्षस्थ है तथापि वह निरंकुश एवं असीमित शक्ति का उपभोक्ता नहीं हो सकता। उसे अन्य प्रकृतियों या घटकों के साथ मिलकर ही काम करना पड़ेगा। प्रकृति सम्मत राजा ही राजा है। निरंकुश रूप में उसकी कोई भी स्थिति नहीं है।¹⁰⁴

राजा का देवत्व - शुक्र की आस्था राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति आदि के समान शुक्र ने भी राजा को आठ लोकपालों की समष्टि माना है।¹⁰⁵ शुक्र का दैवी राजा भीष्म तथा मनु से बिल्कुल भिन्न है। शुक्र सभी राजाओं को दैवी नहीं मानते। प्रकृति के तीन गुणों सत्, रज और तम के आधार पर उन्होंने राजाओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया है - देवांश तथा राक्षसांश। औचित्य का अवलम्बन करने वाला राजा ही देवांश है।¹⁰⁶ राजपद दैवी है न कि स्वयं राजा (एक व्यक्ति के रूप में)। ग्रंथकार ने राजा को दैवी नियुक्त के सिद्धांत को उस पुराने सिद्धांत से जोड़ने का प्रयास किया है जिसमें सत्ता प्राप्त करने और कर ग्रहण करने का अधिकार शासन द्वारा किए जाने वाले संरक्षण (प्रजा की सुरक्षा) की योग्यता पर आधारित है। शुक्र का मन्तव्य है कि राजा प्रजा के संरक्षण हेतु दैवी सत्ता से विभूषित किया गया है। वह प्रजा का सेवक तथा स्वामी दोनों हैं।

उपर्युक्त विवेचन एवं समीक्षा से स्पष्ट है कि शुक्रनीति में राजत्व को कर्तव्य-सापेक्ष बताया गया है। इस प्रकार यूरोप के दैवी राजा के सिद्धान्त की, जिसमें उसकी स्वेच्छाचारिता का खुला समर्थन है, कड़ा विरोध किया गया है। भारतीय चिन्तन में राजा का स्वरूप पाश्चात्य धारणा से बिल्कुल भिन्न है। शुक्र का कथन है कि राजा एक प्रकार से प्रजा का सेवक है और प्रजा से वसूल किया गया कर उसका वेतन है।¹⁰⁷ राजा को प्राप्त प्राप्त सत्ता एक प्रकार की धरोहर अथवा थाती है जिसका प्रयोग लोक प्रजाहित में ही होना चाहिए।¹⁰⁸

सन्दर्भ -

9 अर्थ., ८.१२; के.पी. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ. १२६; शुक्र, १.६१;

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।

सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः।

२ अर्थ., ८.२.

३ अर्थ., १.१३.

४. शुक्र., १.२२,
दुष्कर्मदण्डको राजा होत्कालस्य कारणम्।
५. शुक्र., ४.५२८-८१.
६. शुक्र., ४.८१-८२,
आज्ञोल्लंघनकारित्वं स्वविधो वर्णसंकरः।
परस्त्रीगमनं चौर्यं गर्भश्चैव पति बिना।।
वाक्पारुष्यमवाच्यार्थं दण्डपारुष्यमेव च।
गर्भस्य पातनं चैवत्य अपराधा दशैव च।।
७. शुक्र., ४.४३.
८. शुक्र., २.४,
प्रभुः स्वातंत्र्यमापन्नो ह्यनर्थयिव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च।।
९. शुक्र., १.१६,
भिन्न राष्ट्रं बलं भिन्नं भिन्नोमात्यादिको गणः।
अकौशल्यं नृपस्यैतदनीतैयस्य सर्वदा।।
१०. के.पी. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ. ६.
११. महाभारत, शांतिपर्व, ८३.४६; मनुस्मृति, ७.५५; कौटिलीय अर्थशास्त्र, १.७.१५.
१२. नीतिसार, अध्याय १०,
न खल्वसौ राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तते।
१३. के.पी. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ. २६२-६४.
१४. शुक्रनीतिसार, २.२६३,
नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृस्तन्न नृपो नृपः।
१५. शुक्र., २.२,३,१२; महाभारत, शांतिपर्व, १३०.३६,
नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतोबलम्।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति।।
१६. मानवधर्मशास्त्र, १५.७.
१७. अर्थशास्त्र, २.६.४०,४२.

१८. अर्थशास्त्र, ५.६.५०.
१९. अर्थशास्त्र, ८.१.
२०. अर्थशास्त्र, ६.१.
२१. शुक्र., ४.२,
यस्मात्चीनं भवेद्यावत्तद्राष्ट्रं तस्य वै भवेत्।
२२. शुक्र., ४.१,
स्थावरं जंगमं वापि राष्ट्रशब्देन गीयते।
२३. अर्थशास्त्र, ७.६; मनुस्मृति, ७.२०८.
२४. डी.आर. भण्डारकर, सम आस्पेक्ट ऑफ ऐशियण्ट हिन्दू पॉलिटी, पृ. ८०-८५.
२५. शुक्र., १.७१; प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. ६४.
२६. शुक्र., १.७०; तै.ब्रा., ५.४.३.४; अर्थ., १.१३.
२७. यू.एन. घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियास, पृ. ५०२.
२८. बेनी प्रसाद, थिओरी ऑफ गवर्नमेंट इन ऐशियण्ट इण्डिया, पृ. ३५८-६०.
